इकाई 31 भारतीय पूँजीवाद का उदय, स्वतंत्रता-संग्राम में उसकी भूमिका

इकाई की रूपरेखा

31.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- उपनिवेशवाद और औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के संदर्भ में भारतीय पूँजीपति वर्ग के विकास के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे,
- एक वर्ग के रूप में उपनिवेशवाद के प्रति भारतीय पूँजीपतियों के दृष्टिकोण को जान सकेंगे,
- जन आंदोलन और वामपंथ के प्रति भारतीय पूँजीपतियों के दृष्टिकोण को समझ सकेंगे,
- पूँजीपति वर्ग और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के संबधों को स्पष्ट कर पायेंगे।

31.1 प्रस्तावना

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन अपने आरंभिक चरण अर्थात् उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मुख्यतः शिक्षित मध्य-वर्ग तक ही सीमित था। समय के साथ इसने अपना सामाजिक आधार विस्तृत करना शुरू किया और धीरे-धीरे दूसरे वर्ग इसमें शामिल होने लगे। इन भिन्न वर्गों तथा समाजिक समूहों की भूमिका की प्रकृति और राष्ट्रीय आंदोलन में उनके शामिल होने के समय में अंतर था। इस इकाई में हम स्वतंत्रता संग्राम में भारतीय पूँजीपति वर्ग की भूमिका पर विचार करेंगे।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारत में आधुनिक पूँजीपति वर्ग का उदय हो चुका था। प्रथम विश्व-युद्ध के समय भारतीय पूँजीपतियों की संख्या कम थी लेकिन उनका पूँजी-निवेश उतना कम नहीं था। मुख्य बात यह थी कि वे उस समय तक औपनिवेशिक शासन के समर्थन पर बहुत निर्भर थे। विकास के इस स्तर पर भारतीय पूँजीपतियों के लिए यह संभव नहीं था कि वे औपनिवेशिक राज्य से खुला संघर्ष कर सकें। पूँजीपति 1905—1908 के

स्वदेशी आंदोलन से बाहर ही रहे। असहयोग आंदोलन (1920-22) के समय यद्यपि बहुत से व्यवसायी आंदोलन में शामिल हुए, लेकिन पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास जैसे कई बड़े पूँजीपतियों ने इस आंदोलन का वास्तव में विरोध ही किया। इसके बाद के काल में पूँजीपतियों की स्थिति में परिवर्तन आया और पूँजीपतियों के बड़े वर्ग ने स्वतंत्रता संग्राम को अपना समर्थन दिया।

31.2 भारतीय अर्थव्यवस्था और भारतीय पूँजीपति वर्ग का विकास

भारतीय पूँजीपतियों की राजनीतिक स्थिति भारतीय अर्थव्यवस्था की प्रकृति और विकास के स्तर से जुड़ी हुई थी। औपनिवेशिक काल में, विशेषतः 20वीं शताब्दी में भारतीय अर्थव्यवस्था का विकास दूसरे औपनिवेशिक देशों से महत्वपूर्ण अर्थों में भिन्न था। इसी के आधार पर भारतीय पूँजीपतियों की साम्राज्यवाद संबंधी स्थिति की व्याख्या की जा सकती है। इस विकास की संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार है:

i) बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ होने के तुरन्त बाद ही भारतीय अर्थव्यवस्था में तेज़ी से आयात प्रतिस्थापन की प्रक्रिया शुरू हो गयी। दोनों विश्वयुद्धों और 1930 के दशक की विश्वव्यापी मंदी के दौरान भारतीय अर्थव्यवस्था पर साम्राज्यवाद की पकड़ ढीली पड़ गयी और भारतीय उद्योग के विकास की प्रक्रिया में भारी तेज़ी आयी। इसकी वजह से विदेशी आयातित वस्तुओं को देशी उत्पादनों द्वारा तेज़ी से प्रतिस्थापित किया जाने लगा। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह थी कि इस अवधि में देशी उद्योग के विकास के लिए स्वतंत्र भारतीय पूँजी का प्रबंध किया गया था। दूसरे शब्दों में, भारतीय पूँजीपति विदेशी पूँजीपतियों के छोटे भागीदार के रूप में नहीं बल्कि स्वतंत्र पूँजी के आधार पर आगे बढ़े थे।
ii) प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् देशी उद्योगों के विकास में हुई वृद्धि विदेशी व्यापार की औपनिवेशिक व्यवस्था को उलटने में प्रतिबिम्बित हो रही थी इस प्रचलित व्यवस्था के अंतर्गत उपनिवेश तैयार माल का आयात और कृषि संबंधी कच्चे माल का निर्यात करते थे, अब वह ढांचा उलट गया। 1914 से 1945 के बीच भारत के कुल आयात में तैयार माल का अनुपात बहुत कम हो गया जबकि कुल निर्यात में उसका अनुपात बढ़ गया था, इसके विपरीत भारत के कुल निर्यात में कच्चे माल का अनुपात कम हो गया था और कुल आयात में (उपभोक्ता वस्तुओं की तुलना में) पूँजीगत वस्तुओं का अनुपात बढ़ गया था। साथ ही भारतीय अर्थव्यवस्था की औपनिवेशिक ढंग से अंतर्राष्ट्रीय व्यापार पर निर्भरता कम होने लगी और आंतरिक व्यापार तेज़ी से बढ़ने लगा।
iii) घरेलू उद्योगों में विदेशी पूँजी का नियंत्रण, जो कि दूसरे औपनिवेशिक देशों की तुलना में कम और महत्वहीन था, इस अवधि में और भी कम होने लगा। 1920 के दशक के प्रारम्भ में विदेशी पूँजी के प्रवाह में वृद्धि के बाद कमी आती चली गयी। दूसरी ओर, विशेषतः 1930 के दशक से विदेशी कर्ज़ों और मौजूदा विदेशी निवेश का प्रत्यावर्तन (जो कि अंशतः भारतीय पूँजीपतियों द्वारा विदेशी कंपनियों के अधिग्रहण के द्वारा होता था) बढ़ने लगा। इसके परिणामस्वरूप 1935 के लगभग भारत से विदेशी पूँजी का निर्गमन फिर से प्रारम्भ हुआ। वस्तुतः दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान भारत एक ऋणग्रस्त देश नहीं रह गया। बल्कि इसके विपरीत युद्ध की समाप्ति के समय ब्रिटेन का भारत की ओर स्टर्लिंग संतुलन लगभग 1500 करोड़ रुपये के बराबर पहुंच गया। इसका अर्थ यह था कि भारत अब लंदन के मुद्रा बाज़ार पर निर्भर नहीं रह गया था क्योंकि उसे विदेशी ऋण की आवश्यकता नहीं थी।

प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान ऊपर बतायी गयी प्रक्रियाओं के कारण भारतीय पूँजीपति वर्ग का विकास बहुत तेज़ी से हुआ। ऐसा करना उसके लिए तभी संभव हो पाया जबकि उसने:

- लगातार आर्थिक और राजनीतिक संघर्ष किया, और
- ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा भोगे गये संकट का, विशेषतः दो विश्व युद्धों और व्यापक

मंदी के दौरान पूरा लाभ उठाया।

भारतीय पूँजीपतियों ने सूती वस्त्रों और इस्पात उद्योग के क्षेत्र में आयात प्रतिस्थापन प्रारम्भ किया और धीरे-धीरे बैंकिंग, जूट, विदेश व्यापार, कोयला और चाय जैसे क्षेत्रों को अधिग्रहीत करना शुरू किया जहां पारंपरिक रूप से अभी तक विदेशी पूँजी का प्रभुत्व बना हुआ था। इसी तरह से 1920 के दशक से उन्होंने शक्कर, सीमेंट, कागज़, रसायन, लोहा और इस्पात के क्षेत्र में नया निवेश प्रारम्भ किया। इसके परिणामस्वरूप स्वतंत्रता के आगमन पर भारतीय बाज़ार के 72 प्रतिशत हिस्से पर भारतीय उद्योगों का अधिकार हो चुका था। वित्तीय क्षेत्र में भी इसी तरह से भारतीय पूँजी ने व्यापक स्तर पर काम किया। उदाहरण के लिए:

- 1914 में भारतीय बैंकों का कुल जमा राशि में लगभग 30 प्रतिशत हिस्सा था। जो कि 1947 में बढ़कर 80 प्रतिशत हो गया।
- इसी तरह से भारतीय कंपनियां बीमा व्यवसाय में भी बहुत तेज़ी से आगे बढ़ीं। 1945 तक उन्होंने जीवन बीमा का 79 प्रतिशत और सामान्य बीमा का 75 प्रतिशत व्यवसाय अपने हाथों में ले लिया था। 1946 में भारत के तीन शीर्षस्थ व्यापारिक घरानों की कुल परिसंपत्ति तीन शीर्षस्थ ग़ैर भारतीय कंपनियों की कुल परिसंपत्ति से बहुत ज़्यादा थी।

भारतीय पूँजीपति वर्ग का यह आश्चर्यजनक और स्वतंत्र विकास औपनिवेशिक परिस्थितियों के संदर्भ में बहुत विचित्र अवश्य था लेकिन इस बहुप्रचलित तर्क में सच्चाई नहीं है। यह औपनिवेशिक राज्य द्वारा "अनौपनिवेशिकीकरण" की जानीबूझी नीति के परिणाम स्वरूप संभव हो सका था। वस्तुतः यह विकास **उपनिवेशवाद के बावजूद और उसके विरुद्ध** हुआ था। उसका विकास या तो उस समय हुआ जब साम्राज्यवाद संकट ग्रस्त था या उसने सामान्य स्थितियों में औपनिवेशिक स्वार्थों के विरुद्ध लगातार लड़ाई लड़कर उसे हासिल किया था। भारतीय पूँजीपतियों ने अपने हितों को उपनिवेशवाद के साथ बांधकर नहीं देखा। इसके अलावा समग्र रूप में भी पूँजीपति वर्ग देश के साम्राज्यवाद समर्थक सामंती हितों पर राजनीतिक या आर्थिक रूप से निर्भर अथवा उनके अधीनस्थ नहीं था।

दूसरी स्थिति जिसमें किसी उपनिवेश का पूँजीपति वर्ग साम्राज्यवाद से सहयोग करने की ओर प्रवृत होता है वह है जब इस वर्ग को उग्रवादी पूँजीवाद विरोधी या वामपंथी जन आंदोलन से अपने अस्तित्व को ख़तरा नज़र आने लगे। ऐसी स्थितियां कई औपनिवेशिक, अर्ध-औपनिवेशिक देशों में उत्पन्न हुई थीं जहां पूँजीपति वर्ग ने साम्राज्यवाद के साथ मिलकर उग्रवादी आंदोलन का दमन किया। इस संबंध में हम चीन की मिसाल दे सकते हैं।

भारत में भी पूँजीपति वर्ग वामपंथ के उदय से चिंतित था। इसके बावजूद भारतीय पूँजीपति वर्ग को जब भी वामपंथ के बढ़ने से ख़तरा महसूस हुआ तो उसने इसका मुक़ाबला करने के लिये साम्राज्यवाद से सहयोग नहीं मांगा बल्कि तमाम साधनों से राष्ट्रीय आंदोलन के दक्षिणपंथी वर्ग को सशक्त करने का प्रयास किया।

ऊपर के विश्लेषण से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

1 भारतीय पूँजीपति वर्ग का विकास साम्राज्यवाद से स्वतंत्र और उसके विरुद्ध हुआ था और इसलिए उसने अपने दीर्घकालिक वर्गीय हितों को साम्राज्यवाद के साथ जोड़कर नहीं देखा।
2 भारतीय पूँजीवाद के स्वतंत्र और द्रुतगामी विकास की वजह से पूँजीपतियों में साम्राज्यवाद विरोधी दृष्टिकोण अपनाने की दृढ़ता आयी।
3 लोकप्रिय वामपंथी आंदोलनों से भयभीत होकर पूँजीपति वर्ग ने साम्राज्यवाद से सहयोग या समझौता नहीं किया पूँजीपति वर्ग के सामने मुद्दा यह नहीं था कि साम्राज्यवाद का विरोध किया जाय या नहीं बल्कि यह था कि साम्राज्यवाद से संघर्ष का रास्ता ऐसा हो जिससे स्वयं पूँजीवाद को ही ख़तरा न हो जाय।

बोध प्रश्न 1

1 क्या भारतीय पूँजीवादी वर्ग का विकास उपनिवेशवाद का एक उपोत्पादन था?

....

....

....

....

....

2 भारतीय पूँजीपति वर्ग ने वामपंथ के ख़तरे से निपटने के लिए क्या किया?

....

....

....

....

....

....

....

31.3 वर्ग संगठन का उदय

साम्राज्यवाद और राष्ट्रीय आंदोलन के प्रति अपना रवैया निर्धारित करने की प्रक्रिया में ही भारत का पूँजीपति वर्ग एक राजनीतिक तत्त्व के रूप में उभरा। 1920 के दशक के आरंभ से ही जी. डी. बिड़ला और पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास जैसे पूँजीपति भारतीय वाणिज्य, वित्तीय और औद्योगिक हितों का एक राष्ट्रीय स्तर का संगठन स्थापित करने का प्रयास कर रहे थे। प्रारंभ में वे एक ऐसा भारतीय व्यापार संगठन बनाना चाहते थे, जो औपनिवेशिक सरकार को अपने दृष्टिकोण से प्रभावित कर सके, ऐसा काम ग़ैर-भारतीय व्यापारिक हित संगठित रूप से बहुत पहले से कर रहे थे। इस उद्देश्य से 1927 में फेडरेशन ऑफ़ इंडियन चैम्बर्स ऑफ़ कॉमर्स एंड इंडस्ट्री (FICCI) की स्थापना हुई। फिक्की में शीघ्र ही बहुत सदस्य बन गये और वह पूरे भारत के व्यापारिक हितों की प्रतिनिधि संस्था बन गयी। अपने गठन के कुछ ही समय में अंग्रेज़ी सरकार और आम भारतीय जनता ने भारतीय पूँजीपति वर्ग के भीतर असरदार विचार को अभिव्यक्त करने वाली प्रतिनिधि संस्था मान लिया।

31.3.1 आर्थिक क्षेत्र में भूमिका

पूँजीपति नेताओं ने साफ़ तौर पर घोषित किया कि फिक्की (FICCI) का लक्ष्य "व्यापार, वाणिज्य और उद्योग का राष्ट्रीय अभिभावक" बनना था। उसने आर्थिक क्षेत्र में उन्हीं कार्यों को अपने लिए निर्धारित किया, जिसकी सामान्यतया एक राष्ट्रवादी संगठन से अपेक्षा की जाती है। इस लक्ष्य के लिए भारतीय पूँजीपतियों ने साम्राज्यवाद की, उसकी समग्रता में एक विस्तृत आर्थिक समीक्षा प्रस्तुत की। उदाहरण के लिए, उनकी समीक्षा ने साम्राज्यवाद के उस शोषण को उजागर किया जो कराधान, खिराज, के प्रेषण और होम-चार्ज जैसे अधिशेष के रूप में प्रत्यक्षत: हो रहा है और साथ ही व्यापार, विदेशी निवेश, और वित्तीय तथा मुद्रा के जोड़-तोड़ से भी किया जा रहा है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रख्यात नेताओं मसलन मोतीलाल नेहरू और गांधीजी ने साम्राज्यवाद के संदर्भ में भारतीय हितों से जुड़े जटिल आर्थिक मामलों के बारे में पुरुषोत्तमदास और जी.डी. बिड़ला जैसे उद्योगपतियों की सहायता लेने में कोई संकोच नहीं किया।

31.3.2 राजनीतिक क्षेत्र में भूमिका

फिक्की (FICCI) की भूमिका साम्राज्यवाद की आर्थिक समीक्षा करने और विशेषत: पूँजीपति वर्ग और सामान्यत: पूरे देश की आर्थिक मांगों के लिए लड़ने तक ही सीमित नहीं थी। पूँजीपति वर्ग के नेताओं ने राजनीति में प्रभावपूर्ण हस्तक्षेप की आवश्यकता को महसूस

किया। फिक्की के अध्यक्ष पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने 1928 के वार्षिक अधिवेशन में घोषणा की कि "हम अब अपनी राजनीति को अपने अर्थशास्त्र से अलग नहीं कर सकते"। पूँजीपतियों के राजनीति में सक्रिय होने का अर्थ भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़ना था। जैसा कि पुरुषोत्तमदास ने 1928 के फिक्की अधिवेशन में कहा था, "भारतीय वाणिज्य और उद्योग वास्तविक अर्थों में न केवल राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़े हुए हैं, बल्कि उसका अनिवार्य अंग भी हैं—उसके विकास में इसका विकास है और उसकी शक्ति में इसकी शक्ति है"। पुरुषोत्तमदास के व्यक्तित्व में यह बदलाव का सकेंत था, क्योंकि इससे पहले उन्होंने असहयोग आन्दोलन का विरोध किया था। यह स्पष्ट है कि पूँजीपतियों को अहसास हो गया था कि उनके आर्थिक उद्देश्य भी औपनिवेशिक आधिपत्य वाली इस वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था में बदलाव के लिए लड़ने पर ही हासिल हो सकते हैं। जी. डी. बिड़ला ने 1930 में इसी दृष्टिकोण को अभिव्यक्त किया था:

> "वर्तमान'''' राजनीतिक परिस्थितियों में यह असंभव है कि हम शासन को अपने दृष्टिकोण से सहमत कर सकें। इसका एकमात्र समाधान यह है कि भारतीय व्यापारी मिलकर उन लोगों के हाथ मज़बूत करें जो हमारे देश की आज़ादी के लिए लड़ रहे हैं"

लेकिन इसी के साथ बिड़ला अंग्रेज़ सरकार को यह बताना भी नहीं भूले कि उन्होंने सविनय अवज्ञा आंदोलन के लिए आर्थिक सहायता नहीं दी है।

बोध प्रश्न 2

1 फिक्की की स्थापना का आरंभिक उद्देश्य क्या था?

....
....
....
....
....
....

2 आर्थिक क्षेत्र में फिक्की की क्या भूमिका थी?

....
....
....
....
....
....
....

31.4 साम्राज्यवाद-विरोध का स्वरूप : संवैधानिक मार्ग

पूँजीपति वर्ग ने इस पर भी विचार किया कि उसे किस प्रकार के राष्ट्रीय संघर्ष का समर्थन करना है। पूँजीपतियों का यह दृष्टिकोण शुरू से ही था कि ब्रिटिश सरकार से बातचीत का रास्ता हमेशा खुला रखा जाए और संवैधानिक मार्ग को पूरी तरह से कभी न छोड़ा जाए। उन्होंने संघर्ष के संवैधानिक रास्ते का समर्थन किया और वे किसी आंदोलन तथा सविनय अवज्ञा के पक्ष में नहीं थे। पूँजीपतियों का इस तरह का रवैया अपनाने के पीछे [illegible] से कारण थे:

i) जन आंदोलन का भय :

पूँजीपतियों को भय था कि व्यापक सविनय अवज्ञा से ख़ास तौर पर यदि वह लम्बा खिंच जाता है, जनता में उग्र सुधारात्मक चेतना फैल जाएगी और यह आंदोलन केवल साम्राज्यवाद पर दबाव डालकर समाप्त नहीं हो जाएगा, बल्कि वह स्वयं पूँजीवाद के लिए ख़तरा बन जाएगा। जैसाकि इंडियन मर्चेन्ट्स चैम्बर, बम्बई के एक नेता लालजी नारनजी ने 1930 में स्पष्ट कहा था कि जन आंदोलन से स्वयं ''व्यक्तिगत संपत्ति'' को ख़तरा हो सकता है और इसके द्वारा उत्पन्न ''सत्ता के प्रति अवहेलना'' की भावना ''स्वराज की सरकार'' के लिए ''विध्वंसक परवर्ती प्रभाव'' पैदा कर सकती है। साम्राज्यवाद-विरोधी आंदोलन को पूँजीवाद-विरोधी आंदोलन में परिवर्तित न होने देने के इरादे से उन्होंने हमेशा राष्ट्रीय आंदोलन को सवैंधानिक विरोध के रास्ते पर लाने का प्रयास किया। पूँजीपति इसलिए भी औपनिवेशिक शासन का लंबे समय तक और सर्वव्यापी विरोध नहीं कर सकते थे, क्योंकि उन्हें अपने सामान्य दैनंदिन व्यापार में शासन के न्यूनतम सहयोग की आवश्यकता पड़ती थी। जैसाकि हम जानते हैं, इस समय देश में औपनिवेशिक सरकार थी। अपनी तात्कालिक आवश्यकताओं के लिए वर्तमान शासन पर निर्भरता और जन आंदोलन से सामान्य व्यापार में बाधा पड़ने की वजह से पूँजीपतियों ने किसी भी आंदोलन में भाग नहीं लिया। यहाँ तक कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के तत्वाधान में प्रारंभ हुए जन आंदोलनों तक में सहयोग नहीं दिया।

ii) संवैधानिक मंच :

पूँजीपतियों का विचार था कि परिषदों और विधायिकाओं जैसे संवैधानिक मंचों और गोलमेज़ कान्फ्रेंसों जैसे समझौतों का पूरी तरह से या लम्बे समय तक बहिष्कार करना एक ''आत्मघातक नीति'' ही होगी। उन्हें लगता था कि यदि राष्ट्रवादी शक्तियों ने इन मंचों का पूर्ण बहिष्कार कर दिया तो सरकार अपने निष्ठावान सहयोगियों से मिलकर ऐसी नीतियाँ असानी से पारित करवा लेगी, जो भारत के आर्थिक विकास को गंभीर नुक़सान पहुँचाएंगी। निश्चित रूप से इसमें उनका अपना स्वार्थ था। इस तरह, इसे ध्यान में रखते हुए पूँजीपतियों ने औपनिवेशिक शासन द्वारा बनाये गये तमाम मंचों का न केवल समर्थन किया, बल्कि कई बार उसमें हिस्सेदारी भी की। उदाहरण के लिए, उनमें से कुछ वाइसरॉय की कार्यकारिणी परिषद के सदस्य भी बन गये। वस्तुतः वे चाहते थे कि व्यवस्था के भीतर के सुधारों से जितना भी संभव हो, लाभ उठाया जाये।

कुछ मामलों में पूँजीपतियों ने संवैधानिक संस्थाओं में बिना शर्त भागीदारी का समर्थन नहीं किया। जी० डी० बिड़ला और पुरुषोत्तमदास ने स्पष्ट कहा कि वे ''आधारभूत मामलों पर बिना कोई समझौता किये'' केवल ''अपनी शर्तों पर ही'' हिस्सा लेंगे। उदाहरण के लिए, 1934 में संयुक्त संसदीय समिति द्वारा प्रस्तुत संवैधानिक सुधारों के मसौदे को फिक्की ने ''प्रतिक्रियावादी'' कहकर अस्वीकृत कर दिया।

इसके अलावा पूँजीपतियों ने सामान्यतया राष्ट्रीय आंदोलन के प्रमुख संगठनों की सहभागिता के बिना, या कम से कम उनकी स्वीकृति के बिना, अंग्रेज़ सरकार से संवैधानिक या आर्थिक सवालों पर बातचीत करने से मना किया। उदाहरण के लिए, 1930 में फिक्की ने अपने सदस्यों को यह कहकर गोलमेज़ कांफ्रेंस के बहिष्कार का सुझाव दिया कि ''भारतीय संवैधानिक विकास की समस्या पर बहस करने के लिए आयोजित कोई भी कान्फ्रेंस उस समय तक सफल नहीं हो सकती.... जब तक, एक स्वतंत्र व्यक्ति की तरह महात्मा गांधी उसमें भाग नहीं लेते या कम से कम वे उनकी स्वीकृति नहीं देते''। इसलिए कई प्रमुख पूँजीपतियों ने प्रथम गोलमेज़ कान्फ्रेंस का बहिष्कार किया, लेकिन गांधी जी के साथ दूसरी कान्फ्रेंस में भाग लिया। जब कांग्रेस ने तीसरी गोलमेज़ कान्फ्रेंस का बहिष्कार किया तब पुरुषोत्तमदास ने उसमें अपनी व्यक्तिगत सामर्थ्य के बल पर हिस्सा लिया था, लेकिन उन्होंने स्पष्ट कर दिया था कि गांधी जी की अनुपस्थिति में कान्फ्रेंस संवैधानिक समस्या का समाधान नहीं कर सकती। पूँजीपतियों को अच्छी तरह मालूम हो गया था कि उनके हितों की सुरक्षा का आश्वासन उस समय तक नहीं मिल सकता, जब तक उसके पीछे कांग्रेस का समर्थन नहीं है। 1929 में अहमदाबाद के एक प्रख्यात पूँजीपति अम्बालाल साराभाई ने इस स्थिति को संक्षेप में इस तरह स्पष्ट किया ''कांग्रेस के समर्थन के बिना शासन आपकी बातों को कोई महत्त्व नहीं देगा''।

इस तरह दो कारणों से पूँजीपति संवैधानिक पद्धति और प्रणाली के पक्ष में थे :
क) वे दक्षिणपंथ को मज़बूत करके वामपंथ को प्रभावहीन कर सकते थे,
ख) वे ब्रिटिश शासन को आश्वस्त कर सकते थे कि वे उनकी सत्ता के बने रहने में कोई बाधा नहीं डाल रहे हैं। उदाहरण के लिए, पुरुषोत्तमदास ने दिसम्बर, 1942 में घोषित किया कि "वाणिज्यिक समुदाय की तमाम मांगों का न तो उद्देश्य ही है और न ही उनके लिए यह संभव है कि वे ब्रिटिश शासन को समाप्त कर सकें"।

चित्र 18. जी० डी० बिड़ला

iii) जन आंदोलनों के प्रति दृष्टिकोण :

कई बार उन्हें अपने वर्ग या देश के लिए कुछ महत्वपूर्ण सुविधाएं प्राप्त करने के लिए जन आंदोलनों की ज़रूरत का अहसास हुआ। यहां हम जी० डी० बिड़ला की उस टिप्पणी को उद्धृत कर सकते हैं, जो उन्होंने जनवरी, 1931 में चल रहे सविनय अवज्ञा आंदोलन के सिलसिले में की थी। उन्होंने कहा : "इसमें कोई संदेह नहीं है कि हमें आज जो भी दिया जा रहा है, वह पूरी तरह से गांधीजी की वजह से ही संभव हुआ है।.... यदि हम अपनी इच्छित चीज़ों को हासिल करना चाहते हैं, तो हमें इस आंदोलन को किसी भी तरह से कमज़ोर नहीं होने देना चाहिए"।

iv) लंबे जन आंदोलन के खतरे :

इसके बावजूद वे नहीं चाहते थे कि जन आंदोलन लंबा खिंचे। वे समझौते की कोशिश करते थे, ताकि आंदोलन को वापस लिया जा सके। अक्सर वे समझौते की बातचीत के वक्त शासन और कांग्रेस के बीच मध्यस्थता के लिए अपनी सेवाएं प्रस्तुत करते थे। इसका सबसे अच्छा उदाहरण मार्च, 1931 के गांधी-इर्विन समझौते के पहले की वार्तायें हैं। लेकिन वहां भी जन आंदोलन को जारी रखने या उसे शुरू करने की धमकी को सौदेबाज़ी के लिए इस्तेमाल किया गया। जैसा कि जी० डी० बिड़ला ने जनवरी, 1931 में कहा था कि पूँजीपति वर्ग "शांति के लिए अपनी आतुरता" की वजह से "अपनी माँगों को नहीं छोड़ेगा" या न ही समाप्त करेगा। उन्होंने कहा कि उन्हें दो बातें याद रखना चाहिएं "एक तो यह कि हमें समझौते के अनुकूलतम अवसर का इस्तेमाल करना चाहिए और दूसरी बात यह कि हमें ऐसा कुछ नहीं करना चाहिए, जिससे उनकी (भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की) शक्ति में कमी आये क्योंकि उन्हीं के प्रयासों से हम इस अवस्था तक पहुँचे हैं"। दूसरे शब्दों में, हालांकि पूँजीपतियों ने हमेशा शांति या समझौते का ही प्रयास किया, लेकिन उन्होंने इसके लिए बुनियादी राष्ट्रीय माँगों में कटौती नहीं की और कुल मिलाकर राष्ट्रीय आंदोलन को कमज़ोर नहीं होने दिया।

पूँजीपतियों ने उस समय भी, जबकि वे सविनय अवज्ञा आंदोलन को शुरू करने या उसके जारी रखने के औचित्य पर गंभीर रूप से आशंकित थे, औपनिवेशिक शासन को उसके दमन में सहयोग नहीं दिया। बल्कि इसके विपरीत उन्होंने सदैव सरकार पर दमन रोकने, कांग्रेस और प्रेस से प्रतिबंध हटाने, राजनीतिक बंदियों को रिहा करने और अध्यादेशों के ज़रिये मनमाने शासन को समाप्त करने के लिए दबाव डाला। उनके इस रवैये में उस समय भी परिवर्तन नहीं आया, जबकि राष्ट्रीय आंदोलन अपनी असंवैधानिकता के शिखर पर था। कुल मिलाकर जन आंदोलन के उग्रवादी हो जाने के भय से या दैनंदिन व्यापार में नुकसान होने की नज़र से पूँजीपति वर्ग ने औपनिवेशिक शासन के दमन का समर्थन नहीं किया, बल्कि यहां तक कि इसने न तो आंदोलन की निंदा की और न ही उससे अपने को अलग कि ।

बाध प्रश्न 3

1 पूँजीपतियों ने संवैधानिक मंचों का प्रयोग :
   i) व्यक्तिगत क्षमता में किया।
   ii) कांग्रेस को नकार कर किया।
   iii) कांग्रेस के समर्थन को सचेत रूप से हासिल करके किया।
   iv) उपरोक्त में से कोई नहीं।

2 पूँजीपतियों ने पक्ष लिया :
   i) लंबे जन आंदोलन का।

ii) कांग्रेस और शासन के बीच अपनी मध्यस्थ भूमिका का, ताकि आंदोलन का शीघ्र समाधान हो।
iii) जन आंदोलनों की पूर्ण अनुपस्थिति का।
iv) उपरोक्त में से कोई नहीं।

31.5 कांग्रेस और पूँजीपति

आपको भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और पूँजीपतियों के बीच के संबंधों को जानने में दिलचस्पी होगी। सामान्यतया, इन संबंधों को दो दृष्टिकोणों से विश्लेषित किया जाता है :

1) कांग्रेस पूँजीपतियों से अत्यधिक प्रभावित थी, जो कि इसका इस्तेमाल अपने वर्गीय स्वार्थों के लिए करते थे। यह दृष्टिकोण इस विचार पर आधारित है कि पूँजीपतियों ने अपने कोष के प्रयोग से कांग्रेस को अपनी निम्नलिखित मांगों के समर्थन में लड़ने के लिए विवश किया :

- रुपये-स्टर्लिंग के अनुपात में कमी,
- भारतीय उद्योगों को शुल्क-संरक्षण, और
- तटवर्ती परिवहन का भारतीय जहाज़रानी के लिए आरक्षण इत्यादि।

इसके अलावा पूँजीपतियों ने कांग्रेस के तमाम राजनीतिक निर्णयों को प्रभावित किया। जैसे 1931 में सविनय अवज्ञा आंदोलन की वापसी, चुनावों में ख़ास तौर पर 1937 के चुनाव में कांग्रेस प्रत्याशियों का चयन, 1930 के दशक के अंत में श्रमिक वर्ग के आंदोलन का दमन, दक्षिणपंथ को आर्थिक सहायता प्रदान करना, इत्यादि। गांधीजी को वे इसलिए समर्थन देते थे, क्योंकि उन्हें पूरा विश्वास था कि "अकेले वे ही देश को" "वर्ग-युद्ध" से बचा सकते हैं। दूसरी ओर गांधी ने भी पूँजीपतियों का पक्ष लिया। इस तरह कांग्रेस अपनी प्रकृति में एक पूँजीवादी संगठन था।

2) दूसरे दृष्टिकोण का मानना है कि कांग्रेस पर पूँजीपतियों का कोई प्रभाव नहीं था। बल्कि कांग्रेस ने पूँजीपतियों को अपनी शर्त पर काम करने के लिए विवश किया। इस दृष्टिकोण के अनुसार :

साम्राज्यवाद के विरुद्ध वित्तीय और मौद्रिक स्वायत्तता, तथा संरक्षण इत्यादि की मांगों में केवल पूँजीपति वर्ग का ही लाभ नहीं था। वे स्वतंत्र आर्थिक विकास के लिए आवश्यक राष्ट्रीय मांगें थीं। किसी भी साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष में, चाहे वह पूँजीवादी हो या नहीं, इन मांगों का शामिल होना आवश्यक था। वस्तुतः इन माँगों के लिए भारत के साम्यवादियों और समाजवादियों ने भी संघर्ष किया था। इसके अतिरिक्त, आर्थिक राष्ट्रवाद का सिद्धांत भारत में प्रारंभिक राष्ट्रवादियों ने बनाया था। इसके कई दशकों बाद ही कहीं जाकर पूँजीपतियों ने अपने को राजनीतिक रूप से संगठित किया और इन मांगों के लिए संघर्ष शुरू किया। वस्तुतः जब उन्नीसवीं शताब्दी में इन मांगों को पहली बार उठाया गया था,
i) उस समय पूँजीपति वर्ग का अस्तित्व लगभग था ही नहीं, और वह वर्ग उसके समर्थन में आया भी नहीं। यह स्पष्ट है कि इन मांगों पर लड़ने के लिए पूँजीपतियों द्वारा कांग्रेस को खरीदने, भ्रमित करने या इस पर दबाव डालने की आवश्यकता नहीं थी।
ii) दूसरे, जहां तक नीति-निर्धारण का मामला है, आर्थिक सहायता के लिए कांग्रेस पूँजीपतियों पर इस हद तक निर्भर नहीं थी कि उनका निर्णायक प्रभाव होता। वित्तीय सहायता के लिए भी कांग्रेस पूँजीपतियों पर इतनी निर्भर नहीं थी, कि उसका कांग्रेस की नीतियों पर प्रभाव पड़ सके। कांग्रेसियों की भारी संख्या आर्थिक मामलों में आत्मनिर्भर थी और कांग्रेस के संघर्षों का सामान्य खर्च आम आदमी के सहयोग और स्वैच्छिक योगदान, सहायता शुल्क और छोटे चन्दों से चलता था। यहां तक कि संवैधानिक चरण में भी, जब कांग्रेस चुनाव की तैयारी कर रही थी, कांग्रेस पूँजीपतियों पर आर्थिक रूप से निर्भर नहीं थी। [illegible] ने गुप्तचर ब्यूरो के निदेशक से पूछा था कि "क्या कांग्रेस गांधीवादी

शैलियों के बिना भी लम्बे समय तक जीवित रह सकती है? मार्च, 1939 को अपनी रिपोर्ट में निदेशक ने लिखा था:

> ''कांग्रेस के पास.... वैकल्पिक आर्थिक साधनों की बहुत नियमित व्यवस्था है। देश प्रेम की भावना'' से नगद खर्च बहुत कम हो जाता है.... कांग्रेस की सामान्य गतिविधियों और चुनाव दोनों मामलों के लिए (पूँजीपतियों की) थैलियों का उतना महत्व नहीं है, जितना महत्व गांधीवादी अंध-विश्वास और कांग्रेसी मंत्रियों के ज़बर्दस्त असर का है। इन प्रभावों के समर्थन से कांग्रेस के स्थानीय संगठन जनता से इतना समर्थन हासिल कर सकते हैं कि वे अधिक पैसा खर्च किए बिना चुनाव लड़ सकें''।

इसका यह अर्थ नहीं है कि कांग्रेस को धन की आवश्यकता नहीं थी, या कांग्रेस ने ख़ासतौर पर अपने संवैधानिक चरणों में पूँजीपतियों के सहयोग को स्वीकार नहीं किया। फिर भी, इस धन के सहारे पूँजीपति वर्ग कांग्रेस की नीति और विचारधारा को ऐसे किसी रास्ते पर नहीं ले जा सकता था, जिस पर स्वयं कांग्रेस स्वतंत्र रूप से चलने को तैयार न हो।

इस संदर्भ में कांग्रेस के नेताओं का यहां तक कि पूँजीपतियों के निकट माने जाने वाले नेताओं का दृष्टिकोण बहुत महत्वपूर्ण है। गांधी जी ने बहुत पहले फ़रवरी, 1922 में मिल मालिकों और व्यापारियों के सहयोग का स्वागत करते हुए और यहां तक कि उनसे सहयोग मांगते हुए भी बहुत साफ़ कहा था कि:

> ''वे करें या न करें, स्वतंत्रता की ओर देश की यात्रा किसी निगम या व्यक्तियों के समूह पर निर्भर नहीं की जा सकती। यह जनता के जुड़ाव की अभिव्यक्ति है। जनता तेज़ी से मुक्ति की ओर बढ़ रही है और उसे यह कार्य संगठित पूँजी के सहयोग के साथ या उसके बिना भी करना है। इस तरह यह आंदोलन आवश्यक रूप से पूँजी से स्वतंत्र है, हालांकि उसका विरोधी नहीं है। यदि पूँजी जनता को सहयोग देती है, तो इससे पूँजीपतियों की प्रतिष्ठा में वृद्धि होगी और इससे शुभ दिन आने में देर नहीं होगी''।

इसी तरह से मोतीलाल नेहरू जी स्वराज़वादी चरण में बम्बई और अहमदाबाद के पूँजीपतियों के निकट सम्पर्क में थे और जिन्होंने राजनीतिक काम के लिए उन लोगों से पर्याप्त धन प्राप्त किया था, उन्होंने भी 1928 में निःसंकोच उनको बहुत प्रताड़ित किया, क्योंकि उन्हें महसूस हुआ था कि अपने पुराने वायदों से मुकर रहे हैं। उन्होंने कहा:

> ''कांग्रेस को मिल मालिकों के दृष्टिकोण में इस परिवर्तन का स्वागत करना चाहिए। इन पूँजीपतियों के साथ, जो देश के दुःख से मुनाफ़ाखोरी करने पर आमादा हैं, कांग्रेस का गठबंधन होना असंभव है। कांग्रेस के कार्य के लिए सबसे उपयुक्त मिल-मालिकों का क्षेत्र नहीं, बल्कि मज़दूरों का क्षेत्र है। लेकिन मैं अपने कुछ मिल-मालिक मित्रों की देशभक्तिपूर्ण बातचीत से दिग्भ्रमित हो गया था। महात्मा जी ने इन लोगों के साथ गठबंधन पर कभी विश्वास नहीं किया, और अब मैंने भी उनसे कहा है कि वे सही थे और मैं ग़लत''।

संदेश स्पष्ट था। यदि पूँजीपति चाहते थे कि कांग्रेस उनके साथ काम करे तो उन्हें अपना आचरण सुधारना था। वे यह कार्य करें या न करें, कांग्रेस दूसरे वर्गों के सहयोग पर भरोसा करते हुए अपने काम को करती रहेगी।

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं था कि कांग्रेस को उनके वित्तीय सहयोग की आवश्यकता नहीं थी। बहुत से मौकों पर उसने चन्दा स्वीकार किया। उदाहरण के लिए, डालमिया ने 1937 के चुनाव-कोष में पर्याप्त योगदान किया और बिड़ला ने रचनात्मक कार्यक्रम में हमेशा वित्तीय सहयोग दिया।

31.6 कांग्रेस के प्रति पूँजीपतियों का दृष्टिकोण

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के बारे में पूँजीपतियों का क्या दृष्टिकोण था? वस्तुतः उन्होंने कांग्रेस को कभी भी अपना वर्गीय दल नहीं माना। इंडियन मर्चेंट्स चैम्बर के जे० के० मेहता के

भाई घनश्यामदासजी,

[illegible]

चित्र 19. गांधीजी का जी० डी० बिड़ला को पत्र

अनुसार इस दल में "सभी प्रकार की राजनीतिक विचारधाराओं और आर्थिक दृष्टिकोणों के लिए स्थान था"। लेकिन इसी के साथ पूँजीपतियों ने प्रयास किया कि राष्ट्रीय आंदोलन उग्रवादी न हो जाये, यानी कांग्रेस समाजवादियों और साम्यवादियों के प्रभाव में न आ जाये। इस दृष्टिकोण के साथ उन्होंने कांग्रेस के दक्षिणपंथ को मज़बूत बनाने का प्रयास किया। उदाहरण के लिए जी० डी० बिड़ला ने 3 अगस्त, 1934 को पुरुषोत्तमदास को लिखा:

> "वल्लभभाई, राजाजी और राजेन्द्र बाबू साम्यवाद और समाजवाद के ख़िलाफ़ लड़ रहे हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि हम में से कुछ लोग, जो स्वस्थ पूँजीवाद का प्रतिनिधित्व करते हैं, गांधीजी की सहायता करें और जहां तक संभव हो, एक सामान्य उद्देश्य के लिए काम करें"।

वस्तुत: इसके पहले बिड़ला और ठाकुरदास ने दोराबजी टाटा के इस सुझाव को अस्वीकार कर दिया था कि पूँजीपति वर्ग अपनी एक राजनीतिक पार्टी बनाये। उन्होंने ऐसा इसलिए किया, क्योंकि उन्हें महसूस होता था कि यदि कांग्रेस में दक्षिणपंथ का प्रभुत्व बना रहा है, तो कांग्रेस उनके हितों की रक्षा कर सकती है। गांधीजी का न्यास सिद्धांत (ट्रस्टीशिप) (इकाई 13) उन्हें उपयुक्त लगा था, क्योंकि उसमें पूँजीवाद-विरोधी संघर्ष को हतोत्साहित किया गया था।

31.6.1 कांग्रेस से सम्पर्क

यह दिलचस्प तथ्य है कि पूँजीपतियों ने यह समझने में असाधारण परिपक्वता का प्रदर्शन किया कि कांग्रेस उनकी वर्गीय पार्टी नहीं है और यहाँ तक कि केवल उन्हीं से प्रभावित होने वाली पार्टी भी नहीं है। उन्होंने इस तथ्य को पूरी तरह से स्वीकार किया कि कांग्रेस एक बहुवर्गीय लोकप्रिय आन्दोलन है, इंडियन मर्चेंट्स चेम्बर के जे० के० मेहता के शब्दों में—"जिसमें सभी क़िस्म की राजनीतिक विचारधाराओं और आर्थिक दृष्टिकोणों के लिए स्थान है। कांग्रेस के भीतर किस वर्ग का विचार प्रभावशाली रहेगा, यह एक खुला सवाल था और एक सीमा तक प्रत्येक वर्ग की राजनीतिक परिपक्वता और दूर-दृष्टि पर निर्भर था।

31.6.2 वामपंथी प्रवृत्ति को रोकने के लिए पूँजीपतियों की नीति

इस समझदारी के साथ पूँजीपतियों ने अपनी राजनीति को दिशा दी और इस बात को पुष्ट करने का प्रयास किया कि राष्ट्रीय आंदोलन अधिक उग्रवादी नहीं था यानी समाजवादियों और साम्यवादियों के निर्णायक प्रभाव में नहीं आया था। लेकिन भारतीय पूँजीपतियों ने जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है, वामपंथ के बढ़ते हुए ख़तरे का मुक़ाबला करने के लिए साम्राज्यवाद से हाथ नहीं मिलाया। उदाहरण के लिए, उन्होंने 1928 में लोक सुरक्षा विधेयक को पारित करने में औपनिवेशिक सरकार का समर्थन करने से इन्कार कर दिया, यद्यपि उसका उद्देश्य साम्यवादियों को समाप्त करना था। उनका तर्क था कि इस विधेयक से राष्ट्रीय आंदोलन पर आक्रमण किया जायेगा। इस तथ्य ने, कि पूँजीपतियों ने राष्ट्रवादी आंदोलन के भीतर वामपंथ की बढ़ती हुई प्रवृत्ति को देखकर भी राष्ट्रवाद के पक्ष का परित्याग नहीं किया, आंदोलन के भीतर पूँजीपतियों के प्रभाव को बनाये रखने में पर्याप्त सहयोग दिया।

राष्ट्रवादी पक्ष को छोड़ने के स्थान पर, पूँजीपतियों ने राष्ट्रवादी धारा में वामपंथ से लड़ने के लिए एक पर्याप्त जटिल रणनीति का सहारा लिया। इस नीति के अंतर्गत उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन के दक्षिणपंथ को मज़बूत बनाया और द्रुतगामी आर्थिक विकास, न्यायपूर्ण वितरण, आंशिक राष्ट्रीयकरण, भूमि सुधार और श्रमिक कल्याण की योजनाओं के बारे में विस्तृत राजनीतिक और वैचारिक प्रचार किया। फिक्की के अध्यक्ष जी० एल० मेहता के शब्दों में—"सामाजिक असंतोष के सबसे कारगर उपाय के तौर पर, सुधारों का एक तर्कसंगत कार्यक्रम" बनाकर उन्होंने राष्ट्रवादी आंदोलन के वामपंथी पक्ष से मुक़ाबला करने का प्रयास किया।

इसे एक बार फिर दुहराया जाना चाहिए कि पूँजीपतियों ने राष्ट्रीय आंदोलन को पूँजीवादी सीमा में रोके रखने के लिए साम्राज्यवाद से कोई समझौता नहीं किया। वे साम्राज्यवाद विरोधी ही बने रहे, हालांकि उनका उद्देश्य ऐसी नीति बनाना था जिसमें साम्राज्यवाद के समापन के साथ ही पूँजीवादी व्यवस्था के बने रहने का भी आश्वासन हो।

बोध प्रश्न 4

1 यह कहा जा सकता है कि :
   i) पूँजीपति वर्ग कांग्रेस को आर्थिक सहयोग नहीं दे रहा था।
   ii) पूँजीपति वर्ग कांग्रेस को पूर्णतः वित्तीय सहायता देता था।
   iii) पूँजीपति कांग्रेस को वित्तीय सहायता दे रहे थे लेकिन इस पर विवाद है कि इसका कांग्रेस की नीतियों पर कितना प्रभाव पड़ा।
   iv) उपरोक्त में कोई सत्य नहीं है।

2 राष्ट्रवादी आंदोलन के भीतर वामपंथियों से मुकाबला करने के लिए पूँजीपतियों की सबसे असरदार नीतियां थीं :
   i) कि अति-वामपंथी को मज़बूत किया जाय।
   ii) कि अपने को कांग्रेस मुख्य धारा से अलग कर लिया जाय।
   iii) कि कांग्रेस में ही रहा जाय और दक्षिणपंथ को मज़बूत बनाया जाय।
   iv) उपरोक्त में कोई सत्य नहीं है।

31.7 सारांश

इस इकाई में आपने अध्ययन किया कि :

- विदेशी पूँजी के अवनतशील नियंत्रण, युद्ध द्वारा आरोपित आयात-प्रतिस्थापन और विदेशी व्यापार में बदलाव की वजह से ख़ाली हुए स्थान पर भारतीय पूँजीवाद का उदय हुआ। यह इसलिए संभव हुआ, क्योंकि विश्व युद्ध और 1930 की मंदी से साम्राज्यवाद कमज़ोर हुआ।
- इसके बावजूद भारतीय पूँजीपतियों को अपना स्थान बनाने के लिए औपनिवेशिक नीतियों के विरुद्ध लड़ना पड़ा।
- भारतीय पूँजीपतियों के वर्ग-संगठन फेडरेशन ऑफ़ इंडियन चैम्बर ऑफ़ कॉमर्स एंड इंडस्ट्री (फिक्की) ने निश्चित ढंग से स्पष्ट किया कि साम्राज्यवाद आर्थिक और राजनीतिक तरीक़े से उसके विकास को प्रभावित कर रहा है।
- उपनिवेशवाद की इस सुस्पष्ट समीक्षा की वजह से ही भारतीय पूँजीपतियों ने राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेने की नीति बनायी।
- इस नीति में निम्नलिखित मुख्य बातें थी :
  i) अपने हितों के विरुद्ध पड़ने पर भी जन आंदोलनों की आवश्यकता का अहसास,
  ii) वामपंथ की बढ़ती संभावनाओं का मुकाबला करने की आवश्यकता, और
  iii) कांग्रेस के बहु-वर्गीय मंच को लगातार वर्गीय हितों की ओर मोड़ने की आवश्यकता।

31.8 शब्दावली

आयात-प्रतिस्थापन : एक ऐसी आर्थिक नीति, जिसमें ऐसी वस्तुओं को जो पहले विदेश से आयातित होती थीं देश में ही निर्मित करने के प्रयास को प्रोत्साहन दिया जाता है, इस नीति से सामान्यतया राष्ट्रीय देशी उद्योगों के विकास को बढ़ावा मिलता है।

कम्प्रेडोर : वे पूँजीपति, जिनका उद्योग विदेशी पूँजी के पूर्णतः अधीन है।

सामंतवादी हित : वे हित, जिनके निर्वाह का मुख्य साधन भूमि और जोतदारों के नियंत्रण पर निर्भर करता है।

राष्ट्रीय आंदोलन की सापेक्ष्य स्वायत्तता : इसका आशय है कि राष्ट्रीय आंदोलन किसी प्रभुत्वशाली वर्गीय-हितों से नहीं जुड़ा है, यद्यपि उस आंदोलन में ऐसे सभी वर्गीय स्वार्थ और सभी वर्गों की आशाएं सन्निहित थीं।

31.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 उप-भाग 31.2.5 देखिये। आपके उत्तर में निम्न बातें होनी चाहिएं :
   i) भारतीय पूँजीपतियों की उपनिवेशवाद-विरोधी प्रवृत्ति।
   ii) ब्रिटिश साम्राज्यवाद की अवनति।

2 उप-भाग 31.2.7 देखिये। आपके उत्तर में निम्न बातें शामिल होनी चाहियें :
   i) पूँजीपतियों का वामपंथ के बारे में दृष्टिकोण।
   ii) वामपंथ की शक्ति।

बोध प्रश्न 2

1 भाग 31.3 का प्रथम पैरा देखिये। आपके उत्तर में भारतीय व्यापार के उन प्रयासों का वर्णन होना चाहिए, जिसके द्वारा उन्होंने अपने हितों के संरक्षण के लिए एक राष्ट्रीय संगठन का निर्माण किया।

2 उप-भाग 31.3.1 देखिये। आपके उत्तर में निम्नलिखित बातें होनी चाहिएं :
   i) व्यापार और उद्योग के एक राष्ट्रीय संगठन की भूमिका।
   ii) साम्राज्यवाद की समीक्षा के विकास में इसकी भूमिका।

बोध प्रश्न 3

1 iii)

2 ii)

बोध प्रश्न 4

1 iii)

2 iii)